कर्म : स्वरूप-प्रस्तुति

☐ मेवाड़भूषण पं. श्री प्रतापमलजी म. के शिष्य प्रवर्त्तक श्री रमेश मुनि म.

मैं (कर्म) प्रत्यक्ष देख रहा हूँ और अनुभव कर रहा हूँ, इस वर्तमान युग के सन्दर्भ में कि आज के शिक्षित-अशिक्षित, ग्रामीण तथा नगरनिवासी, धनी-निर्धनी सभी मिथ्या धारणा-मान्यताओं के शिकार होते चले जा रहे हैं, अत्यधिकरूपेण भ्रान्तियों में उलझ रहे हैं। विदिशा (उन्मार्ग) की ओर उनकी गति हो रही है।

इसी कारण अपने बुनियादी यथार्थ सिद्धान्तों, वास्तविक मान्यताओं पर विशेष रूप से आज मैं प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा, जिससे सदियों से प्रचलित गलत धारणाओं से प्रत्येक प्राणी मुक्त हो सके। साथ ही सूर्य-प्रकाश की तरह मेरा यथार्थ स्वरूप जान सके, मेरा सिद्धान्त दुनिया के समक्ष स्पष्टरूप से आ सके। वैसे बहुत से प्रबुद्ध ज्ञानी मेरी प्रक्रिया को पहिचान गये हैं फिर भी अपने सिद्धान्त की परिपुष्टि करना मेरे लिए अत्यावश्यक हो गया है।

सम्पूर्ण सृष्टि अनंत आत्माओं से भरा-पूरा एक विशाल सागर है। अतीत काल में अनंत आत्माएँ थीं, वर्तमान काल में हैं। उसी प्रकार अनागत काल में अनंत आत्माएँ रहेंगी। उनके अलावा जीवराशि में न अधिक बढ़ने की और न घटने की गुंजाइश है। न नवीन आत्माओं की उत्पत्ति होगी और न विद्यमान आत्माओं का विनाश ही संभव है, चूंकि सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं।

मेरा मतलब संसारी, सशरीरी-सरागी आत्माओं से है न कि अशरीरी-मुक्तात्माओं से। यह कोई दर्पोक्ति नहीं है, अपितु एक यथार्थ बात है। सभी संसारी जीवों पर मेरा पूर्ण प्रभाव है। मेरे प्रभाव से कोई भी संसारी आत्मा मुक्त नहीं है। भले वे आत्माएँ एकेन्द्रिय के सूक्ष्म किं वा स्थूल चोले में हो या द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के विशाल बदन में आबद्ध हों, भले वे नैरयिक हों, तिर्यंच गति के प्राणी पशु-पक्षी हों, मर्त्यलोक के मानवी हों और भले वे देवलोक के देवी-देवता देवेन्द्र हों। बिन्दु से सिन्धु तक अर्थात् चक्रवर्ती हो या सूक्ष्म जन्तु हो, सभी मेरे अधीन हैं। सभी पर मेरा आदेश लागू है। सभी मेरे बन्धन में आबद्ध हैं। धृष्टतावश जो भी मेरे आदेश की अवहेलना करते हैं उन्हें विपरीत दशा में भटकना पड़ता है। यह मेरा मिथ्या प्रलाप नहीं, एक तथ्य है। आप देख ही रहे हैं, आप पर भी तो मेरा आधिपत्य है। मैं (कर्म) जब चाहूँ तब आपको भटका सकता हूँ, भ्रमित कर सकता हूँ। रुला सकता हूँ तो हँसा भी। निर्विकारी तथा निराकारी आत्माओं के अतिरिक्त मुझ से कोई भी संसारी आत्माएँ अलग नहीं रह सकती हैं। मेरे साथ सभी के रिश्ते-नाते अनादि काल से हैं।

विद्वज्जगत् मुझे कर्म, भाग्य, पुरुषार्थ, पराक्रम, परिश्रम, उद्यम, और क्रियाशीलता इत्यादि नाना नामों से पुकारता रहा है। कतिपय अनभिज्ञ नर-नारी मुझे आत्मा मानने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूल भी करते रहे तथा कर रहे हैं। वे लोग मेरे सही स्वरूप को जानते नहीं और न जानने की जिज्ञासा ही करते हैं।

दरअसल मैं (कर्म) आत्मा नहीं हूँ, आत्मा से भिन्न मेरा अस्तित्व, जीव की तरह अनादि काल से है। आत्म-स्वरूप को ढँकने वाला मैं अवरोधक तत्त्व हूँ। आत्मा अजर-अमर और चैतन्यशील है। मैं चैतन्यशून्य जडधर्मी हूँ। पुद्गलमय हूँ। मेरी सत्ता लोकाकाश-व्यापी है। अलोक में मेरा अस्तित्व नहीं है। पर्यायों की अपेक्षा मेरी सत्ता एकान्त अनित्यता से जुड़ी हुई है। इस कारण मेरा स्वरूप सदा बदलता रहा, बनता रहा, बिगड़ता रहा है, नाना पर्यायों में नाना संस्थानों में और नाना शरीरों में। बनना बिगड़ना मेरा स्वभाव है। जड़त्व मेरा लक्षण है। सत् है मुझ में किन्तु चित् और आनन्द का मुझ में अभाव है। सत् चित्त और आनन्द गुण आत्मा में उपलब्ध होते हैं। मेरे भाग्य में चित् और आनन्द कहाँ है? मैं जडधर्मी हूँ और निरंतर जडत्व में ही मेरा परिणमन होता रहा है।

जैन-बौद्ध-वैदिक प्रभृति संसार के सभी धर्मानुयायियों ने मेरे प्रति गहराईपूर्वक चिंतन किया है। तत्पश्चात् मेरी सत्ता को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, उन धर्म-प्रवर्त्तकों ने अपने-अपने धर्मग्रंन्थों में, पंथों व मतों में मुझे स्थान दिया है। सभी ने मुझे "कर्म" कहकर मेरा सम्मान किया है। उन दार्शनिकों को ऐसा कहते हुए भी सुना गया है कि—"शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फल मिलते हैं।[1] क्योंकि—प्राणियों के कर्म ही सत्य हैं।[2] इसी कारण मानवों को अच्छे कर्म करना चाहिये और बुरे कर्मों से सदा बचना चाहिये।

जैनदर्शन मेरे सम्बन्ध में अति सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण करता है। यथास्थान प्रस्तुत भी करता रहा है। मेरे एक-एक गूढातिगूढ भेदों उपभेदों को सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने अच्छी तरह से जाना है। इतना ही नहीं, मेरी जड़ें खोखली कर दीं। उन्हें पराजित करने के लिए मैंने चोटी से एड़ी तक पसीना बहाया पर अन्ततः मुझे ही हारना पड़ा। कुछ भी हो, मैं तो स्पष्ट कहने का आदी रहा हूँ। जितना जैनधर्म के प्रवर्त्तकों ने मेरे सम्बन्ध में लिखा है, प्ररूपित किया है एवं जन मानस को मेरे विषय में सम्यक् प्रकार से समझाने का सत्प्रयास किया है, मेरे वास्तविक स्वरूप को दुनिया के सामने रखा है उतना आज तक किसी ने नहीं किया।

अब आपका ध्यान उस ओर खींच रहा हूँ जिसके कारण मानवों के मस्तिष्कों में भ्रान्तियाँ आसन जमाए बैठी हैं। इसका निवारण करना भी मेरे लिए आवश्यक है। वैसे मैं पहले ही कह चुका हूँ कि—मैं जडधर्मी हूँ। मेरे परमाणु स्वयं चलकर जीवात्मा के साथ चिपक जाएँ ऐसी बात नहीं। सरागी-सजीव देहधारियों के संज्ञागत व मनोगत सूक्ष्म किं वा स्थूल भावनाओं की उभरती-उमड़ती ऊर्मियों की तरंगों में मेरे कर्माणुओं को अपनी ओर खींचने की चुम्बकीय शक्ति रही हुई है। जिस प्रकार शाकाहारी प्राणी जल-पान करते समय जल-कणों को खींचते हैं। वे ग्रहण किये हुए चतुःस्पर्शी मेरे परमाणु शुभाशुभ पर्याय के रूप में आत्मप्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं, जुड़ जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा के साथ मेरा संयोग सम्बन्ध हो जाने के कारण अमुक काल पर्यन्त मेरा अस्तित्व सजीव जैसा बन जाता है।

---

१. सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।
दुच्चिणा कम्मा दुच्चिणफला भवंति॥ —दशाश्रुत स्कंध

२. कम्मसच्चा हु पाणिणो। —उत्तरा० ७/२.

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरी आठ शाखाएँ प्रमुख हैं। मेरे कथन की पुष्टि भगवान् महावीर ने की है—

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय. मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य तथ्य है कि—मेरी सभी शाखा, प्रशाखाएँ बंध-उदय-उदीरणा और सत्ता के रूप में प्रवृत्तिशील हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म—आत्मा के ज्ञान गुण को दबाने की जिसमें सत्ता रही है। इसके पांच विकल्प हैं।

दर्शनावरणीय कर्म—सामान्य दर्शन एवं देखने, सुनने, सूंघने की शक्ति के लिए अवरोधक स्वभाव जिसमें रहा हुआ है। इसके ९ भेद हैं।

वेदनीयकर्म—जिन प्रकृतियों के निमित्त से देहधारियों को दुःख तथा सुख का अनुभव हुआ करता है। इसके—साता, असाता दो विकल्प हैं।

मोहनीय कर्म—यह मेरी प्रमुख शाखा है। यह कर्म देहधारियों को विवेक से भ्रष्ट करने वाला है। जिस प्रकार मदिरापान करने पर उन्हें हिताहित का भान नहीं होता है। उसी प्रकार मोहकर्म के वश होकर आत्मा स्वभाव को भूल जाता है। इसके मुख्य दो विकल्प रहे हैं और उत्तरभेद २८ माने जाते हैं।

आयुकर्म—शरीर में जीवात्मा को आबद्ध रखना ही इस प्रकृति का काम है। इसके मुख्य चार भेद हैं—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु व देवायु।

नामकर्म—शुभ नाम से अथवा अशुभ नाम से जीवात्मा की पहिचान करवाने वाली प्रकृति, जिसके कारण जीवात्मा की कभी सु-ख्याति तो कभी कु-ख्याति होती है, आदि।

गोत्रकर्म—यह कर्म देहधारियों को कभी ऊँच श्रेणी में तो कभी नीच श्रेणी में रखता है। इसके २ विकल्प हैं।

अन्तरायकर्म—यह भी मेरी प्रमुख शाखा का एक अंग है। दान-लाभ इत्यादि अच्छे कार्यों में विघ्न डालना ही इसे इष्ट है। इसके ५ भेद हैं, आदि।

अब मैं (कर्म) आपको जरा गहराई में ले जा रहा हूँ। व्यवहारनय की दृष्टि से मेरे परमाणु आत्म-प्रदेशों के साथ एकाकार होकर रहते हैं। ज्ञान व ज्ञानी के प्रति जो आपके मन में शुभाशुभ अध्यवसाय उत्पन्न हुआ, उस समुद्भूत अध्यवसाय में पुद्गलों को खींचने की एक विलक्षण प्रक्रिया रही हुई है। वे गृहीत परमाणु मेरे ज्ञानावरण बंध के रूप में परिणत हो जाते हैं उस कर्ता के साथ। दुर्भावनावश आपने किसी को अंधा-लूला-लंगड़ा-बहरा कह दिया। बस, दर्शनावरण बंध में आप बंध गये। किसी को साता या असाता देने की भावना हुई तो वे आकृष्ट पुद्गल सुख था दुःख वेदनीय कर्म रूप में, रागात्मक या द्वेषात्मक प्रवृत्ति में प्रेरित हुए आपको मोहनीय बंध, बिना मतलब आपने किसी प्राण भूत जीव सत्वों के प्राणों का हनन करने की ठानी तो नीच गति का आयु बंध सकता है। मेरे कर्माणु शुभाशुभ नाम कर्म में जब परिणत होंगे तभी किसी की सुख्याति सुनकर आप प्रमुदित होंगे या ईर्ष्यावश जलेंगे। जाति, कुल, परिवार, बल-रूप-वैभव पर गर्वित हो गये या नम्रीभूत बने हुए हैं तो नीच या उच्चगोत्र का बंध पड़ेगा। आप दूसरों के लिए बाधक बनने की भावना से प्रेरित हैं तो निश्चय ही वे आकर्षित पुद्गल अन्तराय कर्म के रूप में परिणत होंगे। इस प्रकार मेरी बंध प्रकृतियों का यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्पक्ष विवरण है। और सुनिये वह बंध (प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और रस बंध) इस तरह चार पर्यायों में परिणत होता है। चारों बंधों का संक्षिप्त स्पष्टीकरण—

प्रकृति-बंध—स्वभाव की भिन्नता, जैसे—एक-एक मेरी प्रकृति ज्ञान गुण को ढकने वाली है। कोई दर्शन गुण को तो कोई सुख-दुःख को....।

स्थिति-बंध—जिस आत्मा के साथ मेरी प्रकृतियों का सम्बन्ध जुड़ता है वह सम्बन्ध अमुक काल मर्यादानुसार रहता है, उस को स्थिति बन्ध कहकर विद्वानों ने पुकारा है।

अनुभाग-बंध—इसे रस-बंध भी कहते हैं। मेरी कर्म प्रकृतियों का विपाक (फल) जीवात्मा को कभी मंद रूप में तो कभी तीव्र रूप में आस्वादन करना ही पड़ता है।

प्रदेश-बंध—मेरे परमाणु-दलिकों के न्यूनाधिक रूप को प्रदेशबंध की संज्ञा दी गई है।

जिनके मानस मिथ्या मान्यताओं के शिकार हैं वे मानते हैं कि—

"ईश्वर-कृपा से जीवात्मा को सुख किं वा दुःख की प्राप्ति होती है। देहधारी कुछ भी कर नहीं सकता। जगत् में जो कुछ हो रहा है वह ईश्वर की प्रेरणा से ही हो रहा है। सभी का कर्ता-हर्ता-धर्ता ईश्वर है। ईश्वर की इच्छा के बिना संसार का पत्ता भी नहीं हिलता है। कोई जीव नरक में तो कोई स्वर्ग में गया, कोई चोर तो कोई साहूकार बना, कोई राजा तो कोई रंक, कोई हीन तो कोई उच्च। यह सब उस अनन्त शक्तिमान् ईश्वर की देन है। पामर प्राणी क्या कर सकता है?"

ये सब कपोलकल्पित भ्रान्तियाँ हैं। ईश्वर न किसी को दुःख देते हैं और न किसी को सुख। थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि ईश्वर सुख दुःख का कर्ता है तो वह ईश्वर भी मेरे (कर्म के) ही आधीन रहा न? स्वतन्त्र कहाँ? अब जरा मेरे तर्क भी सुन लो—

यदि सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया तो उसने कहां बैठकर किया? जमीन या नभ में? क्योंकि—उनकी मान्यतानुसार पहले कुछ भी नहीं था। यह जगत् असंख्य योजन के विस्तार वाला है। इसमें अनन्तानन्त बेजान वस्तुएँ हैं। इसी प्रकार अनन्तानन्त जीवराशि भी विद्यमान हैं। यदि इन सबको ईश्वर ने बनाया है तो उसे कितना समय लगा होगा? कितने साधन जुटाने पड़े होंगे? पहले कुछ भी नहीं था तो वे साधन कहाँ से प्राप्त किये होंगे? प्रथम चरण में उसने आत्मा का निर्माण किया था या अनात्मा (जड पुद्गलों) का?

विषमता-विचित्रता भरे संसार को आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं, कोई चीज आकार में छोटी है तो कोई बड़े आकार वाली। कोई मनोज्ञ तो कोई अमनोज्ञ, कोई इष्ट तो कोई अनिष्ट, कोई प्रिय तो कोई अप्रिय, कोई सुगन्धमय तो कोई दुर्गन्धमय, कोई शुभ तो कोई अशुभ, कोई कठोर तो कोई कोमल गुणवाली, कोई सुस्वादिष्ट तो कोई विषवत्। इसी प्रकार आकाश-पाताल का अन्तर पैदा करने की उस ईश्वर को क्यों आवश्यकता पड़ी? इस दृश्य से समत्व-योग का अभाव लगता है ईश्वर में।

प्रत्यक्षतः प्रतीत होता है कि—सृष्टि में रहे हुए सभी संसारी जीव-जन्तु एक समान स्थिति वाले नहीं है। कोई दुःखी है तो कोई सुखी, कोई श्रीपति बने फिरते हैं तो कोई रंकत्व भोगते हैं। कोई बीमारी से ग्रस्त है तो कोई बिलकुल हृष्ट-पुष्ट स्वस्थ हैं। कोई हीन कुल में जन्मा है तो कोई उच्च कुल में। कोई पंडित बना है तो कोई मूर्ख ही रह गया।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई भिखारी बनकर फिरता है तो कोई दातार। कोई अच्छे काम करने के इच्छुक हैं तो कोई बुरे कार्यों के रसिक। कोई जन-जन के आदरणीय बने हुए हैं तो कोई जन-जन के कोप के भाजन बने हुए हैं। कोई सुबुद्धि सुगुणी हैं तो कोई दुर्बुद्धि-दुर्गुणी हैं। कोई धर्मात्मा तो कोई अधर्मात्मा है। कोई हिंसक है तो कोई अहिंसक है। कोई सदाचारी तो कोई दुराचारी। इस प्रकार सभी प्राणी रात-दिन अच्छे अथवा बुरे कर्म करने में लगे हुए हैं। कोई संसारी आत्माएँ काययोग से तो कोई वाक्शक्ति से और कोई मनोयोग से कर्मोपार्जन कर रहे हैं। यह सब क्या ईश्वर प्रेरित हैं? कृत कर्म कदापि निष्फल नहीं जाते हैं। फलस्वादन करवाकर ही छूटेंगे। तो शुभाशुभ विपाक का अधिकार उसी ईश्वर पर रहा न? क्योंकि—"ईश्वर के बिना इच्छा के एक पत्ता भी नहीं हिलता है।" यह मान्यता ईश्वरवादियों की है। मतलब यही कि—वह ईश्वर सृष्टि के समस्त देहधारियों के कर्म-विपाक का जिम्मेदार है।

इस तरह वह ईश्वर सारी दुनिया के कर्मों के गुरुतर भार से कितना भारी होगा? इससे तो ईश्वर कर्जदार हो गया, फिर वह कर्म-कर्ज से मुक्त कैसे होगा? क्योंकि संसारी प्राणी सतत कर्म करने में लगे हुए हैं। विपाक भी इसीलिए ईश्वर पर मंडरायेगा।

कुछ समझ में नहीं आता, यह कैसा सिद्धान्त है कि कर्म करते जायें संसारी आत्माएँ और फल भोक्ता हो ईश्वर, चोरी करे मानव और दण्ड भोगे ईश्वर!

दरअसल **ईश्वर कर्तृव्य-सिद्धान्त** प्रबुद्ध मनीषी के मानव धरातल पर खरा नहीं उतरता, यह सृष्टि अनादि काल से रही है और अनन्त काल तक रहेगी। इसे न किसी ने बनाया और न ही कोई इसके अस्तित्व को मिटा पायेगा। सभी प्राणी अपने अपने किये कर्मों का फल स्वयं भी भोगते हैं अर्थात् देहधारी मन-वचन-काया में जैसा जैसा क्रियाकलाप करेगा उसे मैं (कर्म) वैसा वैसा फल देता रहूँगा।

भगवान् महावीर ने मेरे मत का यथातथ्य समर्थन किया है—

कर्म से ही समग्र उपाधियाँ-विकृतियाँ पैदा होती है—[1] सभी प्राणी अपने कृत कर्मों के फल-भोगने में स्वाधीन हैं। और नाना योनियों में कर्मों के कारण भ्रमण करते हैं।[2] जैसा किया हुआ कर्म वैसा ही उसका भोग मिलता है।[3] आत्मा अकेला ही अपने किये हुए दुःख भोगता है।[4] अतीत में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है।[5] और भी सुनिये—

एक बीमार है, उसके सम्बन्ध में विविध विचारधारायें उठ खड़ी होती हैं। डॉक्टर कहेगा—तुम्हारे शरीर में वात-पित्त-कफ का जोर बढ़ गया है। नैमित्तिक-ज्योतिषी कहेगा—तुम्हारी नाम राशि पर क्रूर ग्रह का प्रकोप है, इसी कारण तुम्हें परेशानी उठानी पड़ रही है। ग्रहशांति करवाना आवश्यक है। मंत्रवेत्ता कहेगा—बीमारी कुछ नहीं है, अमुक प्रेतात्मा

---

१. कम्मुणा उवाही जायइ —आचा. सू. १।३।१।
२. सव्वे सयकम्मकप्पिया —सूत्र. सू. १।२।६।१८।
३. जहा कडं कम्मं तहासि भारे —सूत्र. सू. १।५।१।२६।
४. एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं —सूत्र. सू. १।५।२।२२।
५. जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, —सूत्र सू. १।५।२।२३। तमेव आगच्छति संपराए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हें सता रही है, उसके निवारणार्थ यह जप करिए। किसी ओष्ट्रीयोपैथी (हड्डियों के विशेषज्ञ) के पास जायेंगे तो वह कहेगा—इसकी हड्डियों का संतुलन बिगड़ गया है, इसी कारण दर्द रहता है। इसी प्रकार एक्यूपंक्चर-डॉक्टर कहेगा—शरीर में विद्युत् ऊर्जा की कमी है, एक्यूपंक्चर से ठीक रहेगा।[1]

देखा न आपने ? बीमार एक और दृष्टियाँ कितनी विभिन्न ? विभिन्न कार्य-कारण भाव और विभिन्न अभिव्यक्तियाँ। मुझे तो इस प्रकार विभिन्न कथनकारों पर हँसी आ रही है।

आर्य पुत्रो ! सब कुछ मुझ (कर्म) पर आधारित है। शुभाशुभ कर्मों के विपाक-स्वरूप शारीरिक व मानसिक पीड़ाएँ पैदा हुआ करती हैं। अन्तरंग तथा बहिरंग तनाव बढ़ते हैं। विषम परिस्थितियाँ तभी निर्मित होती है। चूंकि—शनि, राहु, केतु, मंगल, रवि इत्यादि नौ ग्रह वैद्य डॉक्टर, मान्त्रिक तथा भूत-प्रेतात्मा सभी मेरे (कर्म के) प्रभाव से प्रभावित हैं, सभी मेरे अधीन हैं। मैं सभी ग्रहों को चक्कर खिलाता रहता हूँ। मेरा यह सिद्धान्त आज का नहीं, अनादि काल से है। बिना मतलब मैं किसी के पीछे फिरता नहीं हूँ, हाँ जो शुभाशुभ कर्त्तव्य करने में संलग्न हैं उन्हीं के पीछे छाया की तरह लगा रहता हूँ। भले ये आत्माएँ स्वर्ग कि वा नरक, महल-जेल, कानन-वन, पहाड़-झाड़ में छिपे रहें, मुझमें वह शक्ति विद्यमान है कि—मैं वहाँ उनका पीछा किये रहूँगा। अपने कर्जदार को पकड़कर दम लेने वाला दुनिया में केवल एक मैं ही हूँ। जहाँ सरकार नहीं वहाँ मेरी पहुँच है, मेरी सत्ता है। सभी नर-नरेन्द्र, सुरेन्द्र पशुजगत् मेरे आधीन हैं।

"न सगे-सम्बन्धी, न तात-मात-भ्रात और न पुत्र-पत्नी कर्मफल भोगने में शरीक होते हैं और न मैं किसी को होने देता हूँ।" जो करेगा वही भरेगा,, यह सिद्धान्त है मेरा। भ. महावीर स्वामी को धन्यवाद है। उन्होंने मेरे सिद्धान्त की पुष्टि की है।[2]

इस जीवन में कृत सत्कर्म इस जीवन में सुखदायी होते हैं और अगले जन्म में भी····। इसी प्रकार इस जीवन में कृत दुष्कर्म इस जीवन में दुःखदायी होते हैं और अगले जीवन में भी····।[3]

मेरा कर्ज अदा किये बिना भले तीर्थंकर-चक्रवर्ती-वासुदेव-बलदेव या कोई और भी बड़ी हस्ती हो, मैं उन्हें मुक्त होने नहीं देता। "पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्।" की हेराफेरी में से उन्हें गुजरना ही पड़ता है। "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।" ऐसा उपदेश देकर भ. महावीर ने मेरे मत की पुष्टि की है।

---

१. वैद्या वदंति कफ-पित्त-मरुद्विकारं, नैमित्तिकाः ग्रहकृतं प्रवदंति दोषम्।
भूतोपसर्गमथ मंत्रविदो वदंति, कर्मैव शुद्धमतयो यतयो वदंति॥

२. न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एको सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं॥ —उत्तरा.

३. इहलोगे सुचिन्नाकम्माः इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति।
इहलोगे दुचिन्नाकम्मा.... .

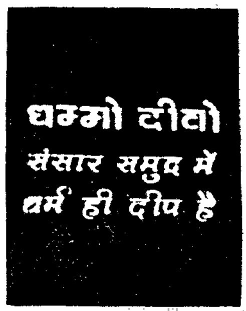

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे सम्बन्ध में वेदव्यास के उद्‌गार—

जिस प्रकार बछड़ा हजारों गायों के बीच में भी अपनी मां को ढूंढ लेता है, उसी प्रकार पहले के किये हुए कर्म भी कर्ता को ढूंढ लेते हैं।[1]

महात्मा गौतम-बुद्ध ने भी कहीं कहीं मेरी पुष्टि की है—

"हे भिक्षुओ ! इक्यानवे कल्प में मेरे द्वारा एक पुरुष की हत्या हुई थी, उसी कर्म-विपाक के कारण मेरे पांवों में कांटे चुभे हैं।[2]

अब मैं अधिक विस्तार की ओर न जाकर सार के रूप में यही कहूँगा कि—कम से कम मानवों को अन्याय, अनीति, अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार, विश्वासघात, धोखाधड़ी, मार-काट एवं हिंसा-हत्या इत्यादि अशुभ कर्मों से बचना चाहिए।

सेवा, उपकार, नीति, न्याय-ईमानदारी, सत्यपरायणता, अहिंसा, तपाराधना, जपसाधना इत्यादि शुभ और शुद्ध करणी से अभीष्ट फलों की प्राप्ति होती है और आत्मा निर्मल भी····।

"कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।" जब सम्पूर्ण मेरा (कर्म का) रिश्ता आत्मा से अलग हो जाता है तब मेरे (कर्म के) आधीन रही हुई वह आत्मा निष्कलंक-निष्कर्मी होकर सिद्ध-बुद्ध की श्रेणी में पहुँच जाती है।

आपके प्रति मेरी मंगलकामना है। आपका भविष्य शुभ कर्मों से समृद्धिशाली बने। आप धर्माराधना में दत्तचित्त हों ताकि आवागमन के चक्र से मुक्ति पा सकें और मुझे भी विराम-आराम मिल सके। सुज्ञेषु किं बहुना !

□□

---

१. यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विंदति मातरम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥

२. इत एकनवतेः कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः॥ —बौद्ध ग्रंथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org